अनुबोधन, खण्ड 2, अंक 2, अप्रैल–जून 2026, पृष्ठ 86–91
जर्नल वेबसाइटः ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट) 3108-1185 (ऑनलाइन)
https://anubodhan.org **https://doi.org/10.65885/anubodhan.v2n2.2026.065**

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्रीय भाव एवं विभाव का स्वरूप विश्लेषण

अविनाश कुमार पाण्डेय *

प्राप्तिः 15 जून 2026 / स्वीकृतः 19 जून 2026 / प्रकाशित ऑनलाइन: 27 जून 2026
Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).

सारांश

रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का आधार है, जिसका उद्गम 'भाव' से माना गया है। आचार्य भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र रस सिद्धान्त का प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकृत है, जहाँ रस की निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का समन्वय आवश्यक माना गया है। आचार्य भरत ने भावों को रसोत्पादक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव तथा सात्त्विकभाव का निरूपण किया है। जिसमें 'स्थायीभाव' मानव-हृदय में स्थिरता पूर्वक निहित वह मनोविकार हैं, जो विभावादि के संयोग से रसस्वरूप को प्राप्त होते हैं। 'व्यभिचारिभाव' स्थायीभाव के पोषक एवं सहायक होते हैं, जबकि 'सात्त्विकभाव' अन्तःकरण की तीव्र भावावस्था के शारीरिक संकेत हैं। ठीक इसी प्रकार रसनिष्पत्ति का कारण 'विभाव' को माना है। उनके अनुसार 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' ये विभाव के दो भेद हैं। आलम्बन विभाव, भाव का आश्रय एवं विषय का बोध कराता है, जबकि उद्दीपन विभाव, भावों को उद्दीप्त करने वाले बाह्य साधनों का द्योतक है। ये भाव एवं विभाव मात्र नाट्यकला के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत तत्त्व हैं। इनके माध्यम से दर्शक के अन्तःकरण में रसानुभूति का उद्भव होता है तथा काव्य एवं नाट्य की कलात्मकता पूर्णता को प्राप्त करती है।

प्रस्तुत शोधालेख आचार्य भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्रीय 'भाव' एवं 'विभाव' के स्वरूप, कार्य एवं नाट्य में उपयोगिता पर केन्द्रित है। आचार्य भरत के अतिरिक्त प्रमुख आचार्यों की व्याख्याओं के आधार पर उसके सैद्धान्तिक आधार, कार्यप्रणाली तथा रस-निष्पत्ति में भूमिका का सम्यक् मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है।
मुख्य शब्दः नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, भाव, विभाव, व्यभिचारिभाव, स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, आलम्बन, उद्दीपन।

प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसके निर्माण में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों की प्रमुख भूमिका होती है। आचार्य भरतमुनि ने अपनी तेजस्विता और प्रतिभा से न केवल अपने युग को प्रभावित किया, अपितु उनकी जीवन-ज्योति का आलोक आज भी इस महादेश को कला और कर्म के क्षेत्र में प्रेरणा

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, नव नालन्दा महाविहार, (सम-विश्वविद्यालय), संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, नालन्दा, बिहार
✉ अविनाश कुमार पाण्डेय, E-mail: 12avinaskumar@gmail.com

और गति प्रदान कर रहा है ।[1] उन्होंने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में 'रस' और उसके अवयवों का विस्तृत विवेचन करते हुए 'भाव' को रसोत्पत्ति का मूल तथा 'विभाव' को कारण माना है । वे कहते हैं 'विभाव' वह तत्त्व है जिसके कारण किसी भाव का उद्भव एवं जागरण होता है । उन्होंने रस सूत्र में विभाव को प्रथम स्थान दिया है । साहित्यशास्त्र और नाट्यकला के क्षेत्र में आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र एक आधारभूत और सर्वोच्च ग्रन्थ है । इसे नाट्यवेद भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें निहित नाट्यकला को वेदों के समान महत्त्वपूर्ण माना गया है । भरताचार्य ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का अंश लेकर इस ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ में कुल 36 अध्याय हैं, जिनमें छठा अध्याय रसाध्यय है और सातवें अध्याय में भावों का विस्तृत निरूपण किया है । नाट्यशास्त्र में 'भाव' को भाषा, शरीर और सत्त्व के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली मनोवृत्ति कहा गया है और विभाव को उसके कारण या निर्धारक केन्द्रीय अवधारणा के रूप में बताया है । ये भाव और विभाव रस-सिद्धान्त की आधारशिला हैं ।

आचार्य भरतमुनि एवं नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

'नाट्यशास्त्र' आचार्य भरतमुनि की शाश्वत साधना का व्यवस्थित परिणाम है । जिसने ललित कलाओं के विश्वकोष के रूप में भरत की उदात्तकला चेतना को अनुप्राणित किया है । इसी कारण शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद तथा इसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप में आदर से स्मरण किया । बिना नाट्यशास्त्र के भारतीय नाट्यकला की कल्पना ही नहीं की जा सकती, परन्तु यह न केवल नाट्यकला, अपितु काव्य, संगीत एवं नृत्य आदि विभिन्न ललितकलाओं का भी विश्वकोष है । वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र में छत्तीस तो किसी संस्करण में सैंतीस अध्याय हैं तथा इसका आयाम छः सहस्त्र श्लोकों का है ।[2] नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय को रसाध्यय व सप्तम अध्याय को भावाध्याय कहा जाता है । रसाध्यय में ऋषिगण आचार्य भरत से रस विषयक पाँच प्रश्न उपस्थापित करते हैं । उत्तर में आचार्य भरतमुनि रसों के नामकरण, रस-निष्पत्ति, रसों का भावों से परस्पर सम्बन्ध, रसों के अधिदेवता तथा रस एवं उनके स्थायीभावों का विस्तृत व्याख्या करते हैं । भावाध्याय में भाव, विभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारिभावों तथा सात्त्विकभाव का विस्तृत विवेचन किया गया है।[3]

भाव का स्वरूप एवं प्रकार

'भाव' शब्द 'भू' धातु से करण (हेतु) अर्थ में निष्पन्न है । जिसका अर्थ होता है, होना, उत्पन्न होना या भावित करना ।[4] नाट्यशास्त्र में भाव उन मानसिक अवस्थाओं को कहा गया है जो रस की अभिव्यक्ति का कारण बनती है । भाव चित्तवृत्ति स्वरूप है, जो प्राणिमात्र में व्याप्त होता है । भरतमुनि के अनुसार-

वागंगसत्त्वोपेतानां भावानां भावयन् यतः ।
भावयन्तीति भावास्ते भावाः स्थायीव्यभिचारिणः॥[5]

अर्थात् वाक्, अंग और सत्त्व (मनोभाव) से युक्त जो मनोवृत्तियों को दर्शक के हृदय में भावित (व्याप्त) करते हैं, वे भाव कहलाते हैं । भाव दर्शक के मन को 'भावयन्ति' अर्थात् प्रभावित करते हैं । भाव के स्वरूप का वर्णन करते हुये भरताचार्य कहते हैं-

विभावैराहतो योऽर्थो ह्यनुभाबैस्तु' गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संशितः ॥[6]

---

[1] भरत और भारतीय नाट्यकला 1, पृ. 5
[2] नाट्यशास्त्र भूमिका, पृ. 3
[3] नाट्यशास्त्र भूमिका, पृ. 5
[4] नाट्यशास्त्र 7, पृ. 67
[5] नाट्यशास्त्र 7.2
[6] नाट्यशास्त्र 7.1

अर्थात् जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होते हुए अनुभावों से बोध्य होते हैं वे ही वाणी, अंग तथा सात्त्विक भावों के अभिनयों से युक्त होने पर 'भाव' कहे जाते हैं।

भाव तीन प्रकार के कहे गये हैं- आचार्य भरतमुनि ने भावों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया है। भावों में आठ स्थायीभाव, तैतीस व्यभिचारिभाव तथा आठ सात्त्विक भाव हैं। काव्य की रसाभिव्यक्ति में करणीभूत ये ही उनचास भाव होते हैं। इन्हीं के सामान्यगुणों के संयोग द्वारा रसादि निष्पन्न होते हैं।[7]

स्थायीभाव- वे भाव जो मन में स्थिर रूप से विद्यमान रहते हैं तथा उपयुक्त परिस्थितियों में रसस्वरूप को प्राप्त होते हैं। आचार्य भरतमुनि कहते हैं, जैसे मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरु मुख्य होते हैं, वैसे ही भावों में स्थायीभाव मुख्य होते हैं।[8] उन्होंने आठ स्थायीभावों का वर्णन किया है-

रतिहासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥[9]

ये सभी स्थायीभाव विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से पुष्ट होकर रस का रूप धारण करते हैं। ये नाटक के मूल हैं। इन्हें दर्शक की सहृदयता के माध्यम से रस में रूपान्तरित किया जाता है।

व्यभिचारिभाव- 'वि' और 'अभि' उपसर्ग तथा गत्यर्थक 'चर' धातु से चलने या गतिशील होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अत: जो विभिन्न प्रकार से रसों की ओर उन्मुख होकर संचरणशील होते हैं, वे व्यभिचारी होते हैं तथा वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों से युक्त होकर जब ये रसों को प्रयोग में ले जाते हैं, तो व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये न केवल रसों की सृष्टि में सहायक होते हैं, बल्कि वे पाठकों और दर्शकों के भावनात्मक अनुभव को भी समृद्ध करते हैं। इसे संचारीभाव भी कहा जाता है, जो क्षणिक होते हैं।[10] आचार्य भरत ने निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क आदि 33 व्यभिचारी भावों का उल्लेख किया है।[11]

सात्त्विकभाव- 'सात्त्विक' शब्द की व्युत्पत्ति है- **'अवहितं मनः सत्त्व तत्प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः'** अर्थात् एकाग्र मन का नाम सत्त्व है, यह सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु होता है वह 'सात्त्विक' कहलाता है। मानसिक स्थिरता के अभाव में अभिनेता के द्वारा स्वरभेदादि का प्रदर्शन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। अतः एकाग्र मन से स्वरभेदादि का प्रदर्शन करना सात्त्विक अभिनय है, जो सात्त्विक भावों का आश्रय लेकर किया जाता है। यद्यपि ये अनुभाव हैं, किन्तु 'सत्त्व' से उद्भूत होने के कारण इनकी पृथक् गणना की जाती है। ये मन की तीव्र भावावस्था के कारण स्वतः उत्पन्न होते हैं। इन पर मनुष्य का प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं होता।[12]

सात्त्विकभाव के प्रकार- आचार्य भरत के अनुसार स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय ये आठ सात्त्विकभाव होते हैं।[13]

विभाव का स्वरूप- 'विभाव' शब्द 'वि' उपसर्ग तथा 'भू' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है- भाव को प्रकट करने वाला या भाव का कारण बनने वाला। आचार्य भरतमुनि कहते हैं-

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।

---

[7] नाट्यशास्त्र 7, पृ. 376

[8] नाट्यशास्त्र 7.8

[9] नाट्यशास्त्र 6.18

[10] नाट्यशास्त्र 7, पृ. 390

[11] नाट्यशास्त्र 6.19-22

[12] नाट्यशास्त्र 8, पृ. 430

[13] नाट्यशास्त्र 7.94

अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संचितः ।।[14]

अर्थात् जिसके द्वारा वाणी, अंग तथा अभिनय में स्थित अनेक अर्थों का अवबोध होता है अतएव इसे 'विभाव' संज्ञा से अभिहित किया गया है। वस्तुतः कहा जाये तो यह भावों के उद्बोधन का साधन है क्योंकि इनके माध्यम से रति-भाव जागृत होता है।

विभाव के प्रकार- आचार्य भरतमुनि ने विभाव के दो प्रमुख भेद माने हैं- आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव- जिस व्यक्ति, वस्तु अथवा विषय के आश्रय से स्थायीभाव उत्पन्न होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं।[15] अर्थात् भाव का आधार या विषय आलम्बन कहलाता है जैसे- नायक एवं नायिका परस्पर श्रृंगार-रस के आलम्बन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव- जो तत्त्व स्थायीभाव को उद्दीप्त करते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। ये भाव के बाह्य प्रेरक तत्त्व होते हैं जैसे- ऋतु, चन्द्रमा, पुष्पों सुगन्ध, वन-विहार, मधुर संगीत आदि नायक एवं नायिका में जागृत रति भाव के बाह्य कारण हैं।[16]

भाव एवं विभाव का परस्पर सम्बन्ध

भाव एवं विभाव भारतीय रस-सिद्धान्त के मूलाधार हैं। जहाँ भाव रस का बीज व विभाव उसका पोषक है। विभाव भावों को जागृत एवं उद्दीप्त करने वाले कारण हैं, जबकि भाव रस की आधारभूत मानसिक अवस्थाएँ हैं। विभाव के बिना भावों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं और भावों के बिना विभावों का कोई सौन्दर्यात्मक महत्त्व नहीं। इनके संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है और सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। भाव और विभाव एक-दूसरे के पूरक, परस्पर आश्रित तथा रस-निर्माण की प्रक्रिया के अनिवार्य तत्त्व हैं। ये अभिन्न हैं क्योंकि विभाव, भाव को जन्म देता है, भाव अनुभाव को उत्पन्न करता है। अत: विभाव के बिना न तो स्थायीभाव जागृत हो सकता है और न स्थायीभाव के बिना रस की अनुभूति सम्भव है। दोनों का समन्वय ही रसोत्पत्ति एवं सामाजिकों को आनन्दानुभूति कराता है।

आचार्यों के मत

आचार्य भरत मुनि के अतिरिक्त आचार्यों ने भी भाव एवं विभाव सम्बन्धित अपने-अपने मत उपस्थित किए हैं। जिनमें से कुछ मत उल्लिखित हैं-

अभिनवगुप्त- अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में विभाव को उस कारण के रूप में स्वीकार किया है जिसके द्वारा सहृदय के हृदय में स्थित स्थायीभाव जागृत होकर रसस्वरूप को प्राप्त होता है। उनके अनुसार विभाव स्थायीभाव को सार्वजनीन बनाते हैं, जिससे सहृदयजन रसास्वादन करते हैं। विभावों के द्वारा ही भाव रसस्वरूप को प्राप्त होते हैं।

विश्वनाथ- साहित्यदर्पणकार कहते हैं-

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ।।[17]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों से व्यंजनावृत्ति से अभिव्यक्त सहृदयों के मन में वासनारूप में स्थित रति आदि स्थायीभाव रस रूप को प्राप्त होते हैं।

मम्मट- आचार्य मम्मट कहते हैं-

विभावा अनुभावास्तत कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।[18]

---

[14] नाट्यशास्त्र 7.4

[15] काव्यप्रकाश 4, पृ. 98

[16] काव्यप्रकाश 4, पृ. 98

[17] साहित्यदर्पण 3.1

[18] काव्यप्रकाश 4.28

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से व्यक्त होने वाला स्थायीभाव को रस कहते हैं। इनमें रत्यादि का मूल कारण विभाव को कहा जाता है, जो आलम्बन तथा उद्दीपन के माध्यम से अभिभूत होते हैं।

धनंजय- दशरूपककार आचार्य धनंजय कहते हैं-

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[19]

अर्थात् विभावों, अनुभावों व्यभिचारिभावों तथा सात्त्विकभावों के द्वारा आस्वादन की योग्यता को प्राप्त कराया गया स्थायीभाव ही रस कहलाता है। आचार्य धनंजय की यह कारिका नाट्यशास्त्रीय रस-सूत्र से उद्धृत है। सूत्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि लोक में रत्यादि स्थायीभाव का हेतु विभाव होता है, जो अपने-आप को परिज्ञात कर 'भाव' (स्थायीभाव) को पुष्ट करता है।[20] अत: उपयुक्त आचार्यों के भाव एवं विभाव सम्बन्धित मतों से यह स्पष्ट है कि विभाव के बिना भाव तथा भाव का बिना रस की कल्पना असम्भव है।

भाव व विभाव की प्रासंगिकता

रस-सिद्धान्त भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का आधार है, जो भरतमुनि, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा विकसित हुआ। जहाँ भाव मानव के अन्तःकरण में स्थित मानसिक अवस्थाएँ हैं, जबकि विभाव भावों प्रेरक तत्त्व हैं। यद्यपि इन अवधारणाओं का विकास प्राचीन नाट्य एवं काव्य के सन्दर्भ में हुआ, किन्तु आज भी इनकी प्रासंगिकता बनी हुई है। काव्यशास्त्रीय 'भाव' आधुनिक मनोविज्ञान के भावात्मक अनुभवों के समतुल्य है तथा 'विभाव' उन उद्दीपकों के समान है जो भावों को उत्पन्न करते हैं। भाव और विभाव की अवधारणा आधुनिक भावनात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी है। आधुनिक कलाओं, साहित्य, रंगमंच, सिनेमा तथा कथानक में पात्रों की भावनाओं में इनकी आधारभूमि विद्यमान है। वहीं शिक्षा जो केवल ज्ञानार्जन का माध्यम ही नहीं, अपितु व्यक्तित्त्व निर्माण का भी साधन है, उसके लिए विद्यार्थियों में सहानुभूति, करुणा, दया, सहयोग तथा नैतिकता जैसे भावों का विकास उपयुक्त विभावों के माध्यम से ही किया जाता है। यह समाज में प्रेम, करुणा, सहानुभूति तथा मैत्री जैसे सकारात्मक भाव सामाजिक एकता को सुदृढ़ बनाते हैं, जिससे सामाजिक समरसता का विकास होता है।

उपसंहार

रस नाट्य का साध्य है और भाव उसका साधन। भाव इस भौतिक जगत् की व्यापक सत्ता है, वह चित्तवृत्ति के रूप में प्राणिमात्र में वैसे ही व्याप्त है, जैसे पार्थिव तत्त्व में गन्ध। परन्तु भाव मनुष्य में अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में वर्तमान है। भावों से ही मनुष्य संवलित होता है। वस्तुतः बिना भाव के मनुष्य ही नहीं, सृष्टि की प्रक्रिया की कल्पना असम्भव है। आचार्य भरत ने भाव की इस व्यापक सत्ता का विचार कर नाट्य के प्रसंग में उसके शास्त्रीय रूप का विवेचन किया है, क्योंकि नाट्य 'नाना भावोपसम्पन्न तथा नानावस्थान्तरात्मक' तथा तीनों लोकों का 'भावानुकीर्तन' है।[21] उन्होंने नाट्यशास्त्र में 'भाव और विभाव' को नाट्यकला की आत्मा माना है। भाव मनोवृत्ति है और विभाव उसका कारण और उनका संयोग ही रस का सृजन करता है। ये सिद्धान्त केवल नाट्य तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु समग्र भारतीय कला और साहित्य के भी मार्गदर्शक हैं। आचार्य भरत कहते हैं- **'न भावो रसवर्जितः'**[22] अर्थात् भाव के बिना रस और रस के बिना भाव निरर्थक हैं। भाव मानव के अन्तःकरण में स्थित रहते हैं, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति विभावों के माध्यम से ही होती है। विभाव के बिना भाव का प्राकट्य सम्भव ही नहीं है। आचार्य भरतमुनि द्वारा रस-सूत्र में विभाव को रसोत्पत्ति का प्रथम साधन माना गया है। जब नायक-नायिका 'आलम्बन विभाव' तथा चन्द्रमा, वसन्त, उपवन आदि 'उद्दीपन विभाव' के

---

[19] दशरूपकम् 4.1

[20] दशरूपकम् 4.2

[21] भरत और भारतीय नाट्यकला 2, पृ. 249

[22] नाट्यशास्त्र 6.37

रूप में उपस्थित होते हैं, तभी रत्यादि स्थायीभाव जागृत होकर श्रृंगार रस का रूप धारण करते हैं। भाव और विभाव केवल प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की सैद्धान्तिक अवधारणाएँ नहीं हैं, अपितु वे मानव जीवन की सार्वकालिक और सार्वभौमिक वास्तविकताएँ हैं। मनोविज्ञान, साहित्य, कला, शिक्षा तथा सामाजिक समरसतादि विविध क्षेत्रों में इनकी उपयोगिता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित नाट्यशास्त्रीय भाव एवं विभाव की अवधारणा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी प्राचीन काल में थी। यह आज भी नाट्यों व काव्यों के अतिरिक्त मानव-व्यवहारों, संवेदनाओं और सामाजिक सम्बन्धों को अत्यधिक गहराई से समझने में सहायक हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

अभिनवगुप्त, विश्वेश्वर (भाष्यकार, सिद्धान्त शिरोमणि). *अभिनवभारती*. दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1960

धनंजय, त्रिपाठी, रमाशंकर (व्या०). *दशरूपकम्*. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001

नाथ, सुरेन्द्र. *भरत और भारतीय नाट्यकला*. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1989

भरतमुनि, शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (व्या०). *नाट्यशास्त्र*. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2024

भरतमुनि, द्विवेदी, पारसनाथ (सम्पादक व व्याख्या). *नाट्यशास्त्र*. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2015

मम्मट, विश्वेश्वर, (व्या०). *काव्यप्रकाश*. ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2022

विश्वनाथ, लोकमणिदाहाल, द्विवेदी, त्रिलोकीनाथ, द्विवेदी शिवप्रसाद (व्या०), *साहित्यदर्पण*. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2022